THE ALTIORA
An International Quarterly Peer-Reviewed / Refereed Journal of Multidisciplinary Research

सांविधानिक न्यायनिर्णयन में न्यायिक टिप्पणियाँ एवं इतरोक्ति : भारत में न्यायिक अभिव्यक्ति की सीमाओं और संस्थागत वैधता का समालोचनात्मक अध्ययन

प्रो० अशोक कुमार राय
अध्यक्ष, विधि विभाग,
कामता प्रसाद सुंदरलाल साकेत महाविद्यालय, अयोध्या

Article Info

ISSN: Applied
Volume: 01
Issue: 01
2026
Received: 07-06-2026
Accepted: 13-06-2026
Page No: 01-07

Abstract

भारतीय न्यायपालिका लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था का एक प्रमुख स्तम्भ है, जिसकी प्रतिष्ठा, प्रभावशीलता तथा वैधता जनविश्वास पर आधारित होती है। न्यायालयों द्वारा प्रदत्त निर्णय न केवल पक्षकारों के विवादों का निस्तारण करते हैं, अपितु वे संविधान की व्याख्या, नागरिक अधिकारों की सुरक्षा तथा शासन की दिशा-निर्धारण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। न्यायिक निर्णयों के अतिरिक्त न्यायालयों में सुनवाई के दौरान न्यायाधीशों द्वारा की जाने वाली मौखिक टिप्पणियाँ, प्रश्न, अवलोकन तथा इतरोक्तियाँ भी सार्वजनिक विमर्श का विषय बन जाती हैं। वर्तमान संचार-प्रधान युग में न्यायालयीन कार्यवाहियों से संबंधित टिप्पणियाँ तत्काल जनसामान्य तक पहुँचती हैं और अनेक बार अंतिम निर्णय से अधिक चर्चा का कारण बनती हैं।

यद्यपि न्यायिक प्रक्रिया में न्यायाधीशों द्वारा प्रश्न पूछना तथा पक्षकारों के तर्कों की कठोर परीक्षा करना स्वाभाविक और आवश्यक है, तथापि यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि न्यायिक अभिव्यक्ति की मर्यादा और सीमाएँ निर्धारित हों। न्यायालय की प्रत्येक टिप्पणी केवल न्यायालय कक्ष तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह न्यायपालिका की संस्थागत छवि और जनता की धारणा को भी प्रभावित करती है। इस कारण न्यायिक संयम, न्यायिक शिष्टता तथा सांविधानिक नैतिकता का पालन न्यायिक आचरण का अनिवार्य अंग माना जाता है।

यह शोधपत्र न्यायिक टिप्पणियों एवं इतरोक्तियों की संकल्पना, उनकी विधिक स्थिति, न्यायिक संयम की आवश्यकता तथा न्यायपालिका की संस्थागत वैधता पर उनके प्रभाव का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। साथ ही प्रमुख न्यायिक निर्णयों तथा विधिवेत्ताओं के विचारों के आधार पर यह विश्लेषण किया गया है कि न्यायिक अभिव्यक्ति की सीमाएँ कहाँ तक होनी चाहिए और न्यायपालिका किस प्रकार अपनी गरिमा एवं जनविश्वास को अक्षुण्ण रख सकती है।

मुख्य शब्द: ***न्यायिक टिप्पणियाँ, इतरोक्ति, न्यायिक संयम, न्यायिक नैतिकता, संस्थागत वैधता, जनविश्वास, सांविधानिक***

1. प्रस्तावना

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में न्यायपालिका को संविधान का संरक्षक तथा विधि के शासन का प्रहरी माना जाता है। न्यायालयों का कार्य केवल विवादों का निपटारा करना नहीं होता, बल्कि वे शासन के विभिन्न अंगों के मध्य सांविधानिक संतुलन स्थापित करने का दायित्व भी निभाते हैं। इसीलिए न्यायपालिका की शक्ति का स्रोत न तो प्रशासनिक नियंत्रण है और न ही भौतिक बल; उसका वास्तविक आधार जनता का विश्वास, नैतिक प्राधिकार तथा सांविधानिक वैधता है।

न्यायालयों में सुनवाई के दौरान न्यायाधीश अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हैं। वे अधिवक्ताओं द्वारा प्रस्तुत तर्कों की परीक्षा करते हैं, तथ्यों की सत्यता परखते हैं तथा संभावित विधिक परिणामों पर विचार करते हैं। यह प्रक्रिया न्यायिक निर्णय तक पहुँचने का एक आवश्यक साधन है। तथापि सुनवाई के दौरान व्यक्त प्रत्येक विचार अथवा टिप्पणी अंतिम निर्णय का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अनेक बार न्यायाधीश केवल किसी तर्क की शक्ति या दुर्बलता को समझने के उद्देश्य से प्रश्न पूछते हैं अथवा संभावित परिस्थितियों की कल्पना करते हुए टिप्पणी करते हैं।

विधिशास्त्र में निर्णय के अनिवार्य आधार और प्रसंगवश व्यक्त विचारों के मध्य स्पष्ट भेद किया गया है। निर्णय का वह सिद्धान्त जो मामले के निस्तारण के लिए आवश्यक हो, बाध्यकारी माना जाता है, जबकि निर्णय के लिए अनिवार्य न होने वाले अवलोकनों को इतरोक्ति कहा जाता है। यद्यपि इतरोक्ति बाध्यकारी नहीं होती, तथापि उसका नैतिक और बौद्धिक प्रभाव व्यापक हो सकता है।

वर्तमान समय में न्यायालयीन टिप्पणियाँ तत्काल समाचार माध्यमों और सामाजिक मंचों के माध्यम से जनसामान्य तक पहुँच जाती हैं। परिणामस्वरूप न्यायालय की कोई भी टिप्पणी व्यापक सार्वजनिक विमर्श का विषय बन सकती है। ऐसी स्थिति में न्यायिक अभिव्यक्ति और न्यायिक संयम के मध्य संतुलन स्थापित करना न्यायपालिका की संस्थागत प्रतिष्ठा के लिए अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

2. न्यायिक टिप्पणियाँ एवं इतरोक्ति की संकल्पना

न्यायिक प्रक्रिया के दौरान व्यक्त सभी विचार समान विधिक महत्व नहीं रखते। किसी भी निर्णय में कुछ तत्व ऐसे होते हैं जो मामले के अंतिम निस्तारण के लिए आवश्यक होते हैं, जबकि कुछ टिप्पणियाँ केवल सहायक अथवा व्याख्यात्मक स्वरूप की होती हैं।

न्यायिक टिप्पणी से आशय उस अवलोकन, प्रश्न अथवा विचार से है जिसे न्यायाधीश सुनवाई के दौरान अथवा निर्णय में व्यक्त करता है। इसका उद्देश्य प्रायः विवाद के विभिन्न पक्षों को समझना, विधिक प्रश्नों की स्पष्टता प्राप्त करना अथवा अधिवक्ताओं के तर्कों की परीक्षा करना होता है।

इसके विपरीत इतरोक्ति वह कथन है जो किसी निर्णय के लिए अनिवार्य नहीं होता, किन्तु न्यायाधीश द्वारा किसी व्यापक विधिक सिद्धान्त, भविष्यगत परिस्थिति अथवा सामान्य विचार के रूप में व्यक्त किया जाता है। यद्यपि ऐसी टिप्पणियाँ बाध्यकारी नहीं होतीं, तथापि वे भविष्य के न्यायिक चिंतन को प्रभावित कर सकती हैं।

विधिवेत्ता सामण्ड के अनुसार न्यायिक निर्णय का बाध्यकारी भाग वही होता है जो विवाद के समाधान के लिए आवश्यक हो। अन्य टिप्पणियाँ केवल प्रेरणात्मक महत्व रखती हैं। इसी प्रकार रूपर्ट क्रॉस ने भी यह प्रतिपादित किया कि न्यायालय द्वारा व्यक्त प्रत्येक विचार विधिक नियम नहीं बन जाता; केवल वही सिद्धान्त बाध्यकारी होता है जो निर्णय का वास्तविक आधार हो।

भारतीय न्यायपालिका ने भी अनेक अवसरों पर इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। न्यायालयों ने यह स्पष्ट किया है कि निर्णय के लिए आवश्यक सिद्धान्त और प्रसंगवश व्यक्त विचारों के मध्य अंतर किया जाना चाहिए। यदि प्रत्येक टिप्पणी को बाध्यकारी मान लिया जाए तो न्यायिक निर्णयों की निश्चितता और स्पष्टता प्रभावित हो सकती है।

इस प्रकार न्यायिक टिप्पणियाँ और इतरोक्तियाँ न्यायिक विमर्श का महत्वपूर्ण भाग होते हुए भी अंतिम निर्णय के समान विधिक प्रभाव नहीं रखतीं। तथापि उनका सार्वजनिक प्रभाव इतना व्यापक हो सकता है कि वे न्यायपालिका की छवि और जनविश्वास को प्रभावित करने लगें। यही कारण है कि न्यायिक अभिव्यक्ति के संदर्भ में संयम और मर्यादा को विशेष

महत्व प्रदान किया जाता है।

3. न्यायिक संयम, न्यायिक नैतिकता एवं न्यायिक अभिव्यक्ति की मर्यादा

न्यायपालिका की प्रतिष्ठा केवल उसके निर्णयों की गुणवत्ता पर निर्भर नहीं करती, बल्कि न्यायाधीशों के आचरण, भाषा, अभिव्यक्ति तथा व्यवहार पर भी आधारित होती है। न्यायिक संयम का सिद्धान्त इसी विचार से उत्पन्न हुआ है कि न्यायाधीश को अपनी शक्ति का प्रयोग अत्यन्त सावधानी, संतुलन तथा आत्मानुशासन के साथ करना चाहिए। न्यायालय में न्यायाधीश का प्रत्येक शब्द विशेष महत्व रखता है, क्योंकि वह केवल एक व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि संविधान द्वारा स्थापित एक संस्था के प्रतिनिधि के रूप में बोल रहा होता है। इसलिए न्यायिक अभिव्यक्ति का स्वर सदैव मर्यादित, तर्कसंगत तथा गरिमापूर्ण होना चाहिए। न्यायिक प्रक्रिया का उद्देश्य किसी व्यक्ति को अपमानित करना, भावनात्मक प्रतिक्रिया देना अथवा सार्वजनिक लोकप्रियता प्राप्त करना नहीं है, बल्कि विधिक प्रश्नों का निष्पक्ष समाधान करना है। यदि न्यायाधीश की भाषा अत्यधिक कठोर, व्यंग्यात्मक, राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत प्रतीत होने लगे, तो न्यायपालिका की निष्पक्षता के प्रति जनता का विश्वास प्रभावित हो सकता है। यही कारण है कि न्यायिक संयम को न्यायिक स्वतंत्रता का पूरक माना जाता है। जितनी अधिक स्वतंत्रता न्यायपालिका को प्राप्त है, उतना ही अधिक संयम उससे अपेक्षित है।

प्रख्यात विधिवेत्ता और न्यायाधीश बेंजामिन कार्डोजो ने अपनी प्रसिद्ध कृति द नेचर ऑफ द ज्युडिशियल प्रोसेस में कहा था कि न्यायाधीश पूर्णतः स्वतंत्र नहीं होता कि वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं, भावनाओं अथवा पूर्वाग्रहों के अनुसार निर्णय करे। उसका प्रत्येक विचार स्थापित सिद्धान्तों, परम्पराओं, तर्कशीलता तथा संस्थागत उत्तरदायित्व से नियंत्रित होता है। कार्डोजो के अनुसार न्यायाधीश को सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि वह व्यक्तिगत नैतिकता का नहीं, बल्कि विधिक व्यवस्था का प्रवक्ता है। इसलिए न्यायिक अभिव्यक्ति का प्रत्येक स्वरूप विधिक औचित्य और संस्थागत गरिमा के अनुरूप होना चाहिए। यह विचार आधुनिक सांविधानिक लोकतंत्रों में न्यायिक संयम के सिद्धान्त का आधार बन चुका है।

भारत में भी न्यायिक नैतिकता के संदर्भ में "न्यायिक जीवन के मूल्यों का पुनर्कथन, 1997" एक महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्वीकृत इस आचार-संहिता में स्पष्ट किया गया है कि न्यायाधीश का आचरण ऐसा होना चाहिए जिससे उसकी निष्पक्षता और तटस्थता पर कोई प्रश्नचिह्न न लगे। इस दस्तावेज में यह भी कहा गया है कि न्यायाधीशों को अनावश्यक सार्वजनिक विवादों से दूर रहना चाहिए तथा ऐसी अभिव्यक्तियों से बचना चाहिए जिनसे किसी विवादित विषय पर उनकी पूर्वनिर्धारित राय का संकेत प्राप्त होता हो। यद्यपि यह दस्तावेज विधिक रूप से बाध्यकारी नहीं है, तथापि यह न्यायिक नैतिकता का एक महत्वपूर्ण मानदण्ड माना जाता है। इसका मूल संदेश यह है कि न्यायाधीश की प्रतिष्ठा केवल उसके निर्णयों से नहीं, बल्कि उसकी भाषा और व्यवहार से भी निर्मित होती है।

न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू ने न्यायिक अभिव्यक्ति के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार न्यायाधीशों को न्यायालय में कम बोलना चाहिए और अधिक सुनना चाहिए। उनका मत था कि न्यायाधीश का वास्तविक उत्तर उसके लिखित निर्णय में होना चाहिए, न कि न्यायालय कक्ष में की गई मौखिक टिप्पणियों में। न्यायमूर्ति काटजू का यह विचार न्यायिक संयम के सिद्धान्त को अत्यन्त प्रभावी रूप से अभिव्यक्त करता है। उनका मानना था कि सुनवाई के दौरान की गई अनेक टिप्पणियाँ संदर्भ से पृथक होकर सार्वजनिक विवाद का विषय बन सकती हैं, जबकि लिखित निर्णय गहन विचार-विमर्श, विधिक विश्लेषण और तर्कसंगत परीक्षण के पश्चात तैयार किया जाता है। इसलिए न्यायाधीश को अपने विचारों की अंतिम अभिव्यक्ति निर्णय के माध्यम से ही करनी चाहिए। न्यायमूर्ति काटजू का यह दृष्टिकोण वर्तमान समय में और अधिक प्रासंगिक हो गया है, क्योंकि आज न्यायालयीन टिप्पणियाँ कुछ ही क्षणों में समूचे देश में प्रसारित हो जाती हैं।

यद्यपि न्यायमूर्ति डी. वाई. चंद्रचूड़ द्वारा लिखित निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने भारत के मुख्य निर्वाचन आयुक्त बनाम एम. आर. विजयभास्कर वाद में स्पष्ट किया कि यह एक सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है कि किसी न्यायिक संस्था की औपचारिक और अधिकृत राय

उसके निर्णयों और आदेशों के माध्यम से व्यक्त होती है, न कि सुनवाई के दौरान की गई मौखिक टिप्पणियों के माध्यम से।

न्यायिक संयम का महत्व केवल सैद्धान्तिक नहीं है, बल्कि इसका प्रत्यक्ष संबंध न्यायपालिका की संस्थागत वैधता से भी है। न्यायपालिका के पास न तो प्रशासनिक शक्ति होती है और न ही कोई प्रत्यक्ष राजनीतिक आधार। उसकी वास्तविक शक्ति जनता के विश्वास में निहित होती है। यदि न्यायालयों की भाषा पक्षपातपूर्ण, अपमानजनक अथवा पूर्वाग्रहपूर्ण प्रतीत होने लगे, तो यह विश्वास धीरे-धीरे क्षीण हो सकता है। इसीलिए अनेक न्यायविदों ने कहा है कि न्यायपालिका की सबसे बड़ी संपत्ति उसका नैतिक अधिकार है और न्यायिक संयम उसी नैतिक अधिकार का संरक्षण करता है। न्यायाधीश की एक असावधान टिप्पणी भी अनेक बार उस क्षति का कारण बन सकती है जिसकी पूर्ति बाद में स्पष्टीकरण देने पर भी पूर्णतः नहीं हो पाती। इसलिए न्यायिक अभिव्यक्ति के प्रत्येक रूप में विवेक, संतुलन और शिष्टता का समावेश अनिवार्य माना जाता है।

4. न्यायिक निर्णयों के आलोक में न्यायिक टिप्पणियों एवं इतरोक्ति का मूल्यांकन

भारतीय न्यायपालिका ने विभिन्न अवसरों पर यह स्पष्ट किया है कि न्यायालय में व्यक्त प्रत्येक विचार बाध्यकारी विधिक सिद्धान्त नहीं होता। इस संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक मामलों में यह प्रतिपादित किया है कि केवल वही सिद्धान्त बाध्यकारी माना जाएगा जो विवाद के निस्तारण के लिए आवश्यक हो। निर्णय के लिए अनिवार्य न होने वाले विचार, चाहे वे कितने ही प्रभावशाली क्यों न हों, बाध्यकारी नहीं माने जा सकते। यह सिद्धान्त न्यायिक निश्चितता और विधिक स्थिरता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

निर्णय निदेशक, बंदोबस्त बनाम एम. आर. अप्पाराव के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि न्यायालय के निर्णय में निहित प्रत्येक वाक्य विधिक सिद्धान्त का स्वरूप ग्रहण नहीं कर लेता। बाध्यकारी तत्व केवल वही होता है जो निर्णय का वास्तविक आधार हो। न्यायालय ने यह भी कहा कि प्रसंगवश व्यक्त विचारों को उसी संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिए जिसमें वे व्यक्त किए गए थे। इस निर्णय ने भारतीय विधिशास्त्र में इतरोक्ति और निर्णय के अनिवार्य आधार के मध्य विभाजन को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

इसी प्रकार अरुण कुमार अग्रवाल बनाम भारत संघ के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह प्रतिपादित किया कि न्यायिक टिप्पणियों की व्याख्या अत्यन्त सावधानी से की जानी चाहिए। न्यायालय ने कहा कि किसी निर्णय के पृथक वाक्यों को संदर्भ से काटकर नहीं पढ़ा जा सकता। प्रत्येक टिप्पणी को उस संपूर्ण निर्णय और उसके तथ्यात्मक परिवेश के संदर्भ में समझना आवश्यक है। यह दृष्टिकोण इस बात की पुष्टि करता है कि न्यायिक अभिव्यक्ति का मूल्यांकन उसके व्यापक संदर्भ में किया जाना चाहिए, न कि किसी एक वाक्य अथवा टिप्पणी के आधार पर।

न्यायिक टिप्पणियों और अंतिम न्यायिक निर्णय के मध्य अंतर को स्पष्ट करने वाला एक अत्यंत महत्वपूर्ण निर्णय भारत निर्वाचन आयोग बनाम एम. आर. विजयभास्कर एवं अन्य का है। कोविड-19 महामारी के दौरान चुनावी गतिविधियों के संदर्भ में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा निर्वाचन आयोग के प्रति अत्यंत कठोर मौखिक टिप्पणियाँ की गई थीं। न्यायालय ने मौखिक रूप से यह भी कहा था कि महामारी के प्रसार के लिए निर्वाचन आयोग के अधिकारियों के विरुद्ध हत्या जैसे अपराधों के लिए उत्तरदायित्व निर्धारित किया जा सकता है। इन टिप्पणियों के व्यापक प्रसारण पर आपत्ति व्यक्त करते हुए निर्वाचन आयोग ने सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया। सर्वोच्च न्यायालय ने खुली न्यायालय प्रणाली को लोकतांत्रिक न्याय-व्यवस्था का अनिवार्य अंग मानते हुए मीडिया पर किसी प्रकार का प्रतिबंध लगाने से इंकार कर दिया, किन्तु इस अवसर पर उसने न्यायिक अभिव्यक्ति के संबंध में एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि किसी न्यायिक संस्था की प्रामाणिक, अधिकृत तथा बाध्यकारी राय उसके अंतिम निर्णयों और आदेशों में निहित होती है, न कि सुनवाई के दौरान व्यक्त मौखिक टिप्पणियों में। साथ ही न्यायालय ने यह भी रेखांकित किया कि न्यायाधीशों को अपनी अभिव्यक्ति में गरिमा, शिष्टता और संयम बनाए रखना चाहिए तथा ऐसी भाषा के प्रयोग से बचना चाहिए जो किसी व्यक्ति, वर्ग अथवा

सांविधानिक संस्था के प्रति अनावश्यक रूप से अपमानजनक या अमर्यादित प्रतीत हो। यह निर्णय न्यायिक टिप्पणियों, इतरोक्ति, न्यायिक संयम तथा संस्थागत वैधता के परस्पर संबंध को समझने के लिए विशेष महत्व रखता है, क्योंकि इसमें न्यायिक स्वतंत्रता और न्यायिक उत्तरदायित्व के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

न्यायिक टिप्पणियों के प्रभाव का एक महत्वपूर्ण उदाहरण समलैंगिक विवाह से संबंधित सुप्रियो बनाम भारत संघ वाद में देखा जा सकता है। सुनवाई के दौरान न्यायपीठ द्वारा किए गए अनेक प्रश्नों और अवलोकनों से यह धारणा निर्मित हुई कि न्यायालय लैंगिक विविधता और वैवाहिक अधिकारों के प्रश्न पर व्यापक सांविधानिक संरक्षण की दिशा में अग्रसर है। समाचार माध्यमों और जनसामान्य के बीच भी ऐसी अपेक्षाएँ विकसित होने लगीं। किन्तु जब अंतिम निर्णय आया, तब न्यायालय का विधिक निष्कर्ष उन प्रारम्भिक धारणाओं से भिन्न था। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि न्यायालय में पूछे गए प्रश्न अथवा व्यक्त टिप्पणियाँ अंतिम निर्णय का संकेत नहीं मानी जा सकतीं। उनका उद्देश्य अनेक बार केवल तर्कों की परीक्षा करना होता है।

इसी प्रकार अनेक अवसरों पर सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी कहा है कि न्यायाधीश द्वारा सुनवाई के दौरान पूछे गए प्रश्नों को उसके अंतिम दृष्टिकोण के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। न्यायिक प्रक्रिया का मूल स्वरूप ही ऐसा है जिसमें न्यायाधीश किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व विभिन्न संभावनाओं की परीक्षा करता है। यदि प्रत्येक प्रश्न अथवा टिप्पणी को अंतिम मत मान लिया जाए, तो न्यायिक विचार-विमर्श की स्वतंत्रता बाधित हो जाएगी। इसलिए न्यायालयों ने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि न्यायिक संवाद और अंतिम निर्णय के मध्य आवश्यक अंतर को समझना चाहिए।

फिर भी यह तथ्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ परिस्थितियों में न्यायिक टिप्पणियाँ अपने विधिक महत्व से अधिक सामाजिक और राजनीतिक महत्व ग्रहण कर लेती हैं। विशेष रूप से तब, जब वे किसी संवेदनशील सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक विषय से संबंधित हों। ऐसी स्थिति में न्यायिक संयम की आवश्यकता और अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि न्यायालय की प्रत्येक अभिव्यक्ति व्यापक जनधारणा को प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

5. डिजिटल युग में न्यायिक टिप्पणियाँ, जनधारणा एवं संस्थागत वैधता की चुनौती

इक्कीसवीं शताब्दी के संचार-प्रधान युग ने न्यायपालिका के कार्य-परिवेश को व्यापक रूप से परिवर्तित कर दिया है। पूर्वकाल में न्यायालयीन कार्यवाहियों की जानकारी सीमित संख्या में उपस्थित व्यक्तियों, अधिवक्ताओं अथवा समाचार-पत्रों तक ही सीमित रहती थी। न्यायालय में हुई प्रत्येक चर्चा सार्वजनिक विमर्श का विषय नहीं बनती थी और न ही सुनवाई के दौरान व्यक्त प्रत्येक टिप्पणी तत्काल जनसामान्य तक पहुँच पाती थी। किन्तु वर्तमान समय में स्थिति पूर्णतः भिन्न है। समाचार माध्यमों, सामाजिक माध्यमों, तात्कालिक संचार मंचों तथा डिजिटल पत्रकारिता ने न्यायालयीन कार्यवाहियों को सार्वजनिक जीवन का अत्यन्त चर्चित विषय बना दिया है। आज न्यायालय में की गई कोई भी टिप्पणी कुछ ही क्षणों में लाखों लोगों तक पहुँच जाती है। परिणामस्वरूप अनेक बार सुनवाई के दौरान व्यक्त मौखिक अवलोकन अंतिम निर्णय से पूर्व ही सार्वजनिक धारणा को प्रभावित करने लगते हैं।

यह स्थिति न्यायपालिका के समक्ष एक नवीन चुनौती उत्पन्न करती है। एक ओर न्यायालय को ऐसा वातावरण चाहिए जिसमें न्यायाधीश बिना किसी भय अथवा संकोच के प्रश्न पूछ सकें, विभिन्न संभावनाओं पर विचार कर सकें तथा पक्षकारों के तर्कों की कठोर परीक्षा कर सकें। दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि न्यायालय की अभिव्यक्ति ऐसी हो जिससे उसकी निष्पक्षता, तटस्थता और गरिमा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। यदि न्यायाधीश यह सोचकर प्रश्न पूछने से बचने लगें कि उनकी प्रत्येक टिप्पणी का सार्वजनिक विश्लेषण होगा, तो न्यायिक विचार-विमर्श की स्वतंत्रता प्रभावित हो सकती है। वहीं यदि न्यायिक अभिव्यक्ति पूर्णतः अनियंत्रित हो जाए, तो संस्थागत प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचने की संभावना भी बढ़ जाती है। अतः न्यायपालिका के समक्ष वास्तविक चुनौती इन दोनों आवश्यकताओं के मध्य संतुलन स्थापित करने की है।

हाल के वर्षों में अनेक अवसरों पर न्यायालयीन

टिप्पणियाँ व्यापक सार्वजनिक विवाद का कारण बनी हैं। विशेष रूप से तब जब न्यायाधीशों द्वारा प्रयुक्त भाषा को कठोर, व्यंग्यात्मक अथवा अनुचित माना गया। एक उल्लेखनीय प्रसंग उस समय सामने आया जब वरिष्ठ अधिवक्ताओं के चयन से संबंधित एक वाद की सुनवाई के दौरान सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश द्वारा कुछ व्यक्तियों के संदर्भ में अत्यन्त कठोर उपमाओं का प्रयोग किया गया। बाद में यह स्पष्ट किया गया कि उक्त टिप्पणियाँ केवल उन व्यक्तियों के लिए थीं जो कथित रूप से मिथ्या शैक्षणिक योग्यताओं के आधार पर विधि व्यवसाय में प्रवेश कर रहे थे। तथापि इस घटना ने एक व्यापक विमर्श को जन्म दिया कि क्या न्यायिक गरिमा के अनुरूप भाषा का स्तर इससे भिन्न होना चाहिए था। अनेक विधिवेत्ताओं ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय का उद्देश्य किसी व्यक्ति की आलोचना करना अवश्य हो सकता है, किन्तु उसकी भाषा सदैव मर्यादित और संस्थागत गरिमा के अनुरूप होनी चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या पश्चातवर्ती स्पष्टीकरण किसी विवादास्पद टिप्पणी से उत्पन्न प्रभाव को पूर्णतः समाप्त कर सकता है। अनेक विधि-विशेषज्ञों का मत है कि न्यायपालिका की प्रतिष्ठा केवल निर्णयों से नहीं, बल्कि उसके व्यवहार और भाषा से भी निर्मित होती है। यदि किसी टिप्पणी को व्यापक रूप से अनुचित अथवा अमर्यादित माना जाता है, तो बाद में दिया गया स्पष्टीकरण उस प्रभाव को पूर्णतः समाप्त नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि जनता के मन में प्रथम प्रभाव अत्यन्त गहरा होता है और वही न्यायपालिका के प्रति उसकी धारणा को प्रभावित करता है। इसलिए न्यायिक अभिव्यक्ति में प्रारम्भ से ही संयम और विवेक का होना आवश्यक माना जाता है।

संस्थागत वैधता का प्रश्न भी इसी संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाता है। किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में न्यायपालिका की वैधता केवल सांविधानिक प्रावधानों से प्राप्त नहीं होती। उसका एक महत्वपूर्ण आधार जनता का नैतिक विश्वास भी होता है। जब नागरिक यह अनुभव करते हैं कि न्यायालय निष्पक्ष, संतुलित तथा विधि के शासन के प्रति प्रतिबद्ध हैं, तभी वे उसके निर्णयों को सम्मानपूर्वक स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत यदि न्यायालय की भाषा पूर्वाग्रहपूर्ण, राजनीतिक अथवा भावनात्मक प्रतीत होने लगे, तो जनता के मन में निष्पक्षता के प्रति संदेह उत्पन्न हो सकता है। यही कारण है कि न्यायिक संयम को केवल व्यक्तिगत सद्गुण नहीं, बल्कि संस्थागत आवश्यकता माना जाता है।

प्रसिद्ध सांविधानिक विचारक अलेक्ज़ेण्डर बिकल ने न्यायपालिका की शक्ति को "जनविश्वास की पूँजी" के रूप में वर्णित किया था। उनका तात्पर्य यह था कि न्यायालयों के पास अपनी इच्छाओं को लागू करने के लिए कोई प्रत्यक्ष शक्ति नहीं होती; वे केवल अपने नैतिक अधिकार और सार्वजनिक सम्मान के आधार पर प्रभावी बने रहते हैं। भारतीय संदर्भ में भी यह विचार पूर्णतः प्रासंगिक है। न्यायपालिका का वास्तविक बल जनता का विश्वास है और न्यायिक संयम उस विश्वास का संरक्षण करने का माध्यम है। इसलिए न्यायिक अभिव्यक्ति का प्रत्येक स्वरूप इस व्यापक संस्थागत उत्तरदायित्व से जुड़ा हुआ है।

6. निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि न्यायिक टिप्पणियाँ और इतरोक्तियाँ न्यायिक प्रक्रिया का स्वाभाविक तथा आवश्यक अंग हैं। न्यायाधीशों द्वारा प्रश्न पूछना, तर्कों की परीक्षा करना तथा विभिन्न संभावनाओं पर विचार करना न्यायनिर्णयन की अनिवार्य प्रक्रिया है। किसी जीवंत सांविधानिक लोकतंत्र में यह अपेक्षित भी है कि न्यायालय किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व सभी पक्षों के तर्कों का गहन परीक्षण करे। इसलिए न्यायालय में पूछे गए प्रश्नों अथवा व्यक्त प्रारम्भिक विचारों को अंतिम निर्णय का संकेत नहीं माना जा सकता।इसके साथ ही यह भी सत्य है कि न्यायिक अभिव्यक्ति पूर्णतः असीमित नहीं हो सकती। न्यायपालिका की प्रतिष्ठा और वैधता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके निर्णयों के साथ-साथ उसकी भाषा और व्यवहार भी निष्पक्ष, संतुलित तथा गरिमामय हों। न्यायिक स्वतंत्रता और न्यायिक संयम परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर पूरक सिद्धान्त हैं। जितनी अधिक स्वतंत्रता न्यायपालिका को प्राप्त है, उतना ही अधिक आत्मसंयम उससे अपेक्षित है।

न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू का यह कथन विशेष रूप

से स्मरणीय है कि न्यायाधीशों को न्यायालय में कम बोलना चाहिए और अधिक सुनना चाहिए तथा जो कुछ कहना हो उसे अपने निर्णय में लिखना चाहिए। यह विचार न्यायिक संयम के सार को अभिव्यक्त करता है। न्यायालयीन टिप्पणियाँ क्षणिक हो सकती हैं, किन्तु लिखित निर्णय न्यायिक चिंतन का परिपक्व और उत्तरदायी स्वरूप होता है। इसलिए न्यायाधीश की अंतिम अभिव्यक्ति निर्णय के माध्यम से ही होनी चाहिए।डिजिटल युग में न्यायिक टिप्पणियों का प्रभाव अभूतपूर्व रूप से बढ़ गया है। आज न्यायालय की प्रत्येक अभिव्यक्ति तत्काल जनसामान्य तक पहुँचती है और व्यापक विमर्श को प्रभावित करती है। ऐसी परिस्थिति में न्यायिक शिष्टता, सांविधानिक नैतिकता और संस्थागत अनुशासन का महत्व पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया है। न्यायपालिका की शक्ति का वास्तविक स्रोत जनविश्वास है और यह विश्वास तभी सुरक्षित रह सकता है जब न्यायिक अभिव्यक्ति विधिक तर्कशीलता, गरिमा तथा संयम से युक्त हो।

अतः यह कहा जा सकता है कि न्यायिक टिप्पणियाँ और इतरोक्तियाँ न्यायिक प्रक्रिया के आवश्यक उपकरण अवश्य हैं, किन्तु उनका प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए कि न्यायालय की निष्पक्षता, तटस्थता तथा संस्थागत वैधता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। न्यायिक संयम ही वह माध्यम है जिसके द्वारा न्यायपालिका अपनी स्वतंत्रता और गरिमा दोनों का संरक्षण कर सकती है। यही सांविधानिक शासन, विधि के शासन तथा लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की मूल अपेक्षा भी है।

संदर्भ सूची

1. एम. पी. जैन, *भारतीय सांविधानिक विधि*
2. वी. एन. शुक्ल, *भारत का संविधान : एक व्याख्या*
3. डी. डी. बसु, *भारत के संविधान का परिचय*
4. सामण्ड, *विधिशास्त्र*
5. रूपर्ट क्रॉस, *पूर्वनिर्णय का सिद्धान्त*
6. बेंजामिन कार्डोजो, *न्यायिक प्रक्रिया का स्वरूप*
7. एच. एल. ए. हार्ट, *विधि की अवधारणा*
8. अलेक्ज़ेण्डर बिकल, *न्यूनतम खतरनाक शाखा*
9. न्यायिक जीवन के मूल्यों का पुनर्कथन, 1997
10. निदेशक, बंदोबस्त, आंध्र प्रदेश बनाम एम. आर. अप्पाराव, (2002) 4 एस.सी.सी. 638
11. अरुण कुमार अग्रवाल बनाम भारत संघ, (2013) 7 एस.सी.सी. 1
12. सुप्रियो उर्फ सुप्रिया चक्रवर्ती एवं अन्य बनाम भारत संघ, 2023 एस.सी.सी. ऑनलाइन सर्वोच्च न्यायालय 1348
13. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, (1973) 4 एस.सी.सी. 225
14. मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ, (1980) 3 एस.सी.सी. 625
15. एस. पी. गुप्ता बनाम भारत संघ, 1981 पूरक एस.सी.सी. 87
16. सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रिकॉर्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ, (1993) 4 एस.सी.सी. 441
17. भारत निर्वाचन आयोग बनाम एम. आर. विजयभास्कर एवं अन्य, (2021) 9 एस.सी.सी. 770